

अहिंसा परमो धर्मः

□ स्वामी ब्रह्मेशानन्द
संपादक, वेदान्त केसरी

‘अहिंसा’ सभी धर्मों का मूलतत्त्व है। जैन, बौद्ध एवं वैदिक धर्म में अहिंसा को श्रेष्ठ धर्म माना है। अहिंसा का स्वरूप क्या है? अहिंसा के प्रकार कितने हैं? अहिंसा अपनाने में क्या-क्या समस्याएँ हैं? आदि सभी प्रश्नों का समाधान दे रहे हैं - स्वामी श्री ब्रह्मेशानन्द जी। स्वामी जी का यह आलेख जैन, वैदिक, बौद्ध दर्शन - त्रिवेणी की धारा को प्रस्फुरित कर रहा है।

- सम्पादक

प्रस्तावना

मानव-जाति की हजारों वर्ष की संस्कृति और सभ्यता के बावजूद आज भय और हिंसा हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग बने हुए हैं। हमने इन्हें जीवन पद्धति का अनिवार्य और स्वाभाविक अंग मान लिया है। भले ही हम किसी की हिंसा न करते हों लेकिन द्वेष, घृणा, दूसरों के दोष देखना आदि हमारे मन में विद्यमान हैं। युद्ध, हत्या और अपराध के समाचारों में हमारी तीव्र रुचि हमारी हिंसक प्रवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

लेकिन आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत में अहिंसा पर आधारित समाज रचना के दो महत्वपूर्ण प्रयोग हुए थे। वर्धमान महावीर द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म ने अहिंसा को जीवन का केन्द्र बिन्दु मानकर मानवों की ही नहीं बल्कि छोटे से छोटे कीड़े तक की हत्या को त्याग कर मानव जाति को विकास के एक उच्चतर सोपान तक उठाने का प्रयास किया था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म को अंगीकार कर अहिंसा को एक राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। लेकिन अहिंसा प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रभाव ने एक ओर जहाँ समाज को एक उच्चतर दिशा प्रदान की, वहीं दूसरी ओर उसने समाज को दुर्बल भी किया। अहिंसा उच्चतम आदर्श है और किसी भी

समय किसी भी समाज में एक अल्पसंख्यक वर्ग ही उस उच्चतम आदर्श का अधिकारी और ग्रहण करने में समर्थ होता है। अनधिकारी तथा सारे समाज के द्वारा स्वीकार किए जाने के कारण भारत की अवनति ही हुई जिसके फलस्वरूप भारत को हजार वर्षों की दासता सहन करनी पड़ी।

पातंजल योग सूत्र के अनुसार अहिंसा पाँच यमों में पहला और सबसे महत्वपूर्ण है। वैसे तो अष्टांग योग का एक अंग होने के कारण अहिंसा एक साधन मात्र है लेकिन यह इतना महत्वपूर्ण है कि इसे यदि लक्ष्य एवं परम धर्म मानें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्यास देव के अनुसार अन्य सभी यम नियम का मूल अहिंसा ही है तथा वे अहिंसा की सिद्धि हेतु होने के कारण अहिंसा प्रतिपादन के लिए ही शास्त्र में प्रतिपादित हुए हैं। सभी धर्मों में इसे महत्व दिया गया है तथा अहिंसा को किसी न किसी प्रकार से अपने जीवन में स्थान दिए बिना धार्मिक जीवन संभव ही नहीं है। अतः इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त एवं जीवन के अनिवार्य अंग को भलीभाँति समझ लेना परम आवश्यक है।

अहिंसा का अर्थ

सामान्यतः हिंसा का अर्थ है - दूसरे को मारना या कष्ट पहुँचाना और अहिंसा का अर्थ है किसी को कष्ट न

पहुँचाना। व्यास के अनुसार अहिंसा का अर्थ है : “सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानां अनभिद्रोहः” – अर्थात् सर्वथा, सदा सभी प्राणियों के प्रति सभी प्रकार के द्वेष-द्रोह-भाव का त्याग।

अहिंसा मूलक जैन धर्म के प्रवर्तक वर्धमान महावीर कहते हैं - “जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है, जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है।” जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्म हितैषी पुरुषों ने सभी तरह की जीव हिंसा का परित्याग किया है।” प्राणी हत्या करना स्वयं की हत्या के समान है, इस बात की प्रतिध्वनि ईशावास्योपनिषद् में भी मिलती है -

असूर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तां स्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः।।

अर्थात् आत्मा का हनन करने वाले लोग मरणोपरान्त अन्धकार से आवृत लोकों को जाते हैं। जो अज्ञानी लोग अपने अद्वय आत्मस्वरूप को नहीं जानते वे मरणोपरान्त पुनः-पुनः जन्म ग्रहण करते हैं-तथा पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे बार-बार अपनी ही मृत्यु का कारण बनते हैं। देहात्मबोध के कारण हम स्वयं को दूसरों से पृथक् समझते हैं तथा उसके कारण राग द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। जहाँ द्वैत है, दो हैं, वहीं भय है- द्वितीया द्वे भयम् भवति। भगवान् महावीर का कथन है, राग आदि की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति हिंसा है।

“अप्रार्तुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसोति।

तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।”

तात्पर्य यह कि अद्वैत में प्रतिष्ठित होकर रागादि को जीते बिना अहिंसा में प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार भी हम कुछ इसी प्रकार के निष्कर्ष पर आते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर का

जन्म तथा मृत्यु उसके सुख-दुःख सभी प्रारब्ध कर्म के अधीन होते हैं। अतः यदि कोई किसी की हत्या करता है अथवा किसी को कष्ट पहुँचाता है, तो कर्म सिद्धान्त के अनुसार इसके पीछे पूर्व जन्मों के कर्म ही उत्तरदायी हैं तथा भविष्य में हिंसक अथवा कष्ट देने वाले को इसका फल भोगना होगा। कहा भी गया है :

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता।

परो ददातीति कुबुद्धि रेषा।।

अहं करोमीति वृथाभिमान।

स्वकर्म सूत्रेण प्रथितो हि लोकः।।

अर्थात् सुख और दुःख का दाता अन्य कोई नहीं है। यह सोचना कि दूसरा सुख-दुःख प्रदान करता है कुबुद्धि है; मैंने ऐसा किया है, यह व्यर्थ का अभिमान है। वस्तुतः सभी स्वकर्म के सूत्र द्वारा बँधे हैं। तात्पर्य यह कि कर्मवाद के अनुसार पर हिंसा जैसी कोई चीज नहीं है। दूसरे को मारने से स्वयं की ही हानि होती है। यदि किसी व्यक्ति या पशु को बाँधकर उसकी शक्ति का हनन किया जाय तो इसके परिणाम स्वरूप बंधनकर्ता की इन्द्रियाँ निस्तेज हो जाती हैं। दूसरों को दुःख प्रदान करने पर नारकीय दुःख प्राप्त होता है, तथा दूसरे का प्राण हरने से या तो व्यक्ति अल्पायु होता है, अथवा दीर्घायु होने पर भी रुग्ण होता है। इस तरह दूसरे को कष्ट देने पर हम वस्तुतः स्वयं को कष्ट देने की ही भूमिका तैयार करते हैं।

विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो भी पूर्ण अहिंसा संभव प्रतीत नहीं होती। शरीर धारण के लिए न्यूनाधिक मात्रा में हिंसा को स्वीकार करना ही पड़ता है। श्वास-प्रश्वास में असंख्य कीटाणु मरते हैं; चलने-फिरने में भी छोटे-मोटे अनेक कीड़े-मकोड़े पैरों तले कुचल जाते हैं; वनस्पतियों में भी प्राण होता है तथा उसका भोजन भी एक प्रकार की हिंसा है। वस्तुतः जीवन धारण में एक प्राणी दूसरे को आहार बनाकर ही जीवित रहता है - यह प्रकृति

का विधान है। अतः व्यावहारिक, भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा असंभव है। जो साधक इस सत्य को समझ लेते हैं। पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लेते हैं, तथा स्वयं के अस्तित्व के लिए प्राणि हिंसा नहीं चाहते, वे जितना शीघ्र ही, संसार बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं; जिससे पुनः जन्म न लेना पड़े और न ही दूसरे प्राणियों की हिंसा करनी पड़े। वे भोग के स्थान पर योग का आश्रय लेते हैं / जो क्रमशः अल्प से अल्पतर हिंसा का मार्ग है। अहिंसा के सन्दर्भ में योग का अर्थ है – न्यूनतम हिंसा का जीवन।

स्वयं की आत्मा के समान ही समस्त प्राणियों की आत्मा है, इस सत्य का साक्षात्कार करना ही जीवन का उद्देश्य है, और जो योगी समस्त प्राणियों के सुख-दुःख अपने सुख-दुःख के रूप में अनुभव करता है, वह गीता के अनुसार सर्वोत्तम योगी है।

सर्व भूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मानि ।

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः । ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः । ।

एक संन्यासी के जीवन का चरम आदर्श इसी सत्य की उपलब्धि करना है। वह समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करता है, क्योंकि सभी प्राणी उसी के अंग हैं। “अभयं सर्वभूतेषु मनःसर्वं प्रवर्तते।” यही कारण है कि किसी प्राणी की हिंसा करना साध्य के विरुद्ध होने से त्याज्य है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार अन्याय का प्रतिकार न करना” Resist not Evil संन्यास का आदर्श है, क्योंकि अन्याय करने वाला भी उसी का एक रूप है।

अहिंसा के इस उच्चतम रूप को कुछ दृष्टान्तों के द्वारा समझा जा सकता है। एक कृशकाय तपस्वी सूफी सन्त मांस की एक दुकान के सामने से गुजरते हुए क्षण भर के लिए वहीं खड़े हो गए। उन्हें देखकर मुसलमान दुकानदार

ने सलाम किया और कहा कि क्या वे मांस लेंगे। सन्त ने कहा कि उन्हें मांस की आवश्यकता नहीं है। दुकानदार ने प्रतिवाद करते हुए कहा, “जनाब, आपके शरीर में मांस बिल्कुल नहीं है, आपको तो मांस की जरूरत है, क्योंकि मांस से ही मांस बनता है। सूफी सन्त ने क्षण भर रुक कर उत्तर दिया, “मेरी देह में जितना मांस है, उतना कब्र के कीड़ों के लिए काफी है” और वे आगे बढ़ गये। उन सन्त के लिए स्वयं की देह कब्र के कीड़ों की देह से अधिक मूल्यवान् नहीं रह गयी थी।

श्रीरामकृष्ण ने भी “सर्वान्तैकत्व” के अनुभव के फलस्वरूप स्वयं की रुग्ण देह को स्वस्थ करना अस्वीकार कर दिया था। घटना उस समय की है जब वे गले के कैंसर से पीड़ित थे तथा उसके कारण कुछ भी खा-पी नहीं सकते थे। गले में तीव्र पीड़ा होती थी तथा शरीर धीरे-धीरे दुर्बल होता चला जा रहा था। वे गले के रोग-ग्रस्त अंश पर मन को एकाग्र करके उसे ठीक करने की संभावना को उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि जो देह माँ जगदम्बा को अर्पित की जा चुकी है, उस पर वे मन को एकाग्र नहीं कर सकते। लेकिन भक्तों के अत्यधिक आग्रह को वे अस्वीकार नहीं कर सके और उनके आग्रह पर उन्होंने माँ जगदम्बा से प्रार्थना की कि गले को थोड़ा ठीक कर दें जिससे कि वे कुछ खा सकें। माँ जगदम्बा ने जो उत्तर दिया वह वस्तुतः श्री रामकृष्ण की उच्चतम अद्वैत ज्ञान में प्रतिष्ठा का द्योतक है। माँ जगदम्बा ने सभी भक्तों को दिखाकर कहा कि तू इतने मुखों से तो खा रहा है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी महापुरुष सर्वत्र अपनी ही आत्मा का दर्शन करने के फलस्वरूप स्वयं की देह की विशेष सेवा सुश्रूषा की इच्छा नहीं करते। वे केवल लोक कल्याण के लिए अल्पतम हिंसा को स्वीकार कर देह धारण करते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से दो बातें स्पष्ट हो गई होंगी।

प्रथम तो यह कि हिंसा करने से स्वयं की हिंसा होती है, और परहिंसा जैसी कोई चीज नहीं है; और द्वितीय यह कि अहिंसा के तीन स्तर सम्भव हैं। (१) पारमार्थिक अर्थात् सर्वभूतात्मानुभूति में प्रतिष्ठित होना, (ii) मानसिक-याने राग-द्वेष से रहित होना और (३) व्यावहारिक जो वाचिक और शारीरिक इन दो प्रकार की हो सकती है। पारमार्थिक अहिंसा साध्य है तथा अन्य दो साधन है। मानसिक अहिंसा को भाव अहिंसा भी कहा जाता है, और वाचिक और शारीरिक हिंसा अथवा अहिंसा, द्रव्य हिंसा अथवा द्रव्य अहिंसा के नाम से भी अभिहित होती है। इसके अतिरिक्त अहिंसा के नकारात्मक तथा विधेयात्मक, इस तरह दो पक्ष भी हो सकते हैं। किसी को कष्ट न देना, हत्या न करना, किसी से द्वेष घृणा न करना नकारात्मक पक्ष है, जब कि दूसरों की सेवा, प्रेम, करुणा, मैत्री की भावना का विकास करना आदि विधेयात्मक पक्ष के अन्तर्गत आते हैं। जिस समाज में अहिंसा का पालन तथा सर्वात्मभाव की प्रतिष्ठा जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही अधिक विकसित समाज कहलाएगा।

पारमार्थिक अहिंसा के आदर्श को समझने एवं स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। उसी तरह मानसिक अहिंसा अर्थात् घृणा, राग, द्वेष के त्याग के विषय में विवाद संभव नहीं है। लेकिन स्थूल बाह्य हिंसा, अथवा शारीरिक, व्यावहारिक स्तर पर हिंसा और अहिंसा का क्या रूप होना चाहिए? इस विषय को लेकर मतभेद है। एक मत के अनुसार पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति किसी भी प्रकार की हिंसा क्यों न करे वह हिंसा नहीं कही जा सकती जैसा कि गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था। दूसरा मत कहता है कि जो व्यक्ति अहिंसा में प्रतिष्ठित है, वह बाह्य हिंसा का त्याग क्यों न करे। यही नहीं, अगर कोई व्यक्ति ठीक-ठीक पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे किसी की हिंसा संभव ही नहीं है। वह प्राणियों की हिंसा

करने के बदले अपने शरीर का त्याग श्रेयस्कर ही समझेगा। यह मत राम और कृष्ण जैसे शस्त्रधारी महापुरुषों को पूर्ण विरक्त शुकदेवादि की तुलना में निम्न कोटि का समझता है।

हिंसा का अर्थ

जिस प्रकार अहिंसा को एक व्यापक दृष्टि से देखा जा सकता है उसी प्रकार व्यापक अर्थों में हिंसा के भी कई रूप हो सकते हैं। शास्त्रकारों ने हिंसा “प्राण वियोगानुकूल व्यापार”, “प्राण वृत्तिच्छेद” आदि पदों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। वृत्ति का अर्थ है वह व्यवसाय या क्रिया जिससे कमाई कर हमारी जीविका चलती है। वृत्तिच्छेद का अर्थ है – उस कमाई या पोषण का मार्ग बन्द कर देना। यथा, वृक्ष को काटने के बदले उसकी जड़ से मिट्टी, जल, खाद आदि हटा देना – इससे पेड़ को काटा तो नहीं वह स्वयं बिना आहार के मर गया। अथवा किसी जानवर को तलवार से नहीं मारना, पर उसके नाक-मुँह आदि बन्द कर देना, अथवा किसी अपराधी को पत्थर से बाँधकर पानी में डुबो देना जिससे वह वायु के अभाव में मर जाए। इसी भाव का थोड़ा विस्तार करने पर देखेंगे कि किसी व्यक्ति की नौकरी छीन लेना अथवा ऐसी सामाजिक परिस्थिति कर देना जिससे आजीविका उपार्जन कठिन हो जाये, हिंसा के अन्तर्गत आ जायेंगे।

सामान्यतः यदि हमारी कोई लापरवाही या प्रमाद से कष्ट पाये या मृत्यु को प्राप्त हो, उसे हिंसा नहीं मानते। यथा सड़क पर कोई व्यक्ति छटपटाता पड़ा है और हम उसे देखते हुए भी उठाकर अस्पताल ले जाने के बदले उपेक्षा करके वहीं छोड़कर चले जायें और यदि वह मर जाये तो मृत्यु का दोष लगेगा। यदि हम एक ऐसे समाज में रहते हैं जो हिंसा एवं मानव उत्पीड़न को प्रोत्साहित करता है, और फिर भी उसके विरुद्ध बोलते तक नहीं, तो प्रकारान्तर से हम उसका अनुमोदन ही करते हैं।

उपर्युक्त व्यापक दृष्टि से विषय का अवलोकन करने पर यह समझना आसान हो जाएगा कि अहिंसा को पंच यमों में क्यों प्रमुख स्थान दिया गया है तथा सत्यादि भी अहिंसा के अंग क्यों माने गये हैं? सत्य का अर्थ है असत्य भाषण कर दूसरे को कष्ट न देना। अस्तेय अर्थात् दूसरे के सत्त्व का हरण कर उसे कष्ट न देना।

परिग्रह का अर्थ है जिन वस्तुओं पर दूसरों की दृष्टि है, वह मेरे द्वारा भोगी जाये यह भाव तथा आवश्यकता से अधिक संग्रह करना। संसार में भोजन का एक भी ऐसा कौर नहीं है, जिस पर मक्खी, चींटी, चिड़ियाँ आदि की दृष्टि न हो इतना होते हुए भी जो इनका संग्रह करता है, वह हिंसा करता है। - अतः इससे विरत होना अपरिग्रह है। इसी तरह दूसरे को भोग्य न समझना एवं भोक्तृत्व की हिंसा न करना ही ब्रह्मचर्य है। दुर्भाग्य यह है कि अनादि काल से जीवन के लिए संघर्ष में रत मानव के लिए हिंसा स्वाभाविक हो गई है उसे सीखना नहीं पड़ता। लेकिन अहिंसा के लिए शिक्षा आवश्यक है, एवं हिंसा के त्याग द्वारा अहिंसा के संस्कारों को दृढ़ करना आवश्यक है।

अहिंसा की साधना

अहिंसा के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या का उद्देश्य उसकी साधना के प्रकार तथा उपायों को भलिभाँति समझना है। जैसा कि कहा जा चुका है, अहिंसा के तीन स्तर हैं: पारमार्थिक, मानसिक और शारीरिक। पारमार्थिक अहिंसा लक्ष्य है, एवं मानसिक और शारीरिक अहिंसा उस लक्ष्य को पाने के उपाय। इन उपायों में मानसिक अहिंसा या भाव अहिंसा, शारीरिक या द्रव्य अहिंसा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि मन से अहिंसक अथवा शान्त हुए बिना बाह्य जीवन में हिंसा का सम्यक् त्याग संभव नहीं है।

भाव अहिंसा या मानसिक अहिंसा की साधना

(9) सर्वत्र आत्म दर्शन का अभ्यास - इस पारमार्थिक सत्य को बार-बार विचार द्वारा मन में बिठाने का प्रयत्न

करना चाहिए तथा लौकिक व्यवहार के समय मन में इस बात का स्मरण करते रहना चाहिए कि सर्वत्र एक ही परमात्म सत्ता विद्यमान है जो मेरी आत्मा से अभिन्न है। पारमार्थिक सत्य पर सीधे आधारित हुए भी यह साधना आसान नहीं है। अतः इससे उतर कर कुछ निम्न स्तर पर मन से हिंसा तथा हिंसा सम्बन्धित भावों को त्यागने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

(2) वैर त्याग की साधना - मानसिक स्तर पर अहिंसा वैर, घृणा इत्यादि के रूप में अभिव्यक्त होती है। वैर भी पर-पात्र के भेद से चार प्रकार का होता है। जिसके सुख में हमारा स्वार्थ नहीं रहता या जिसके सुख से हमारे स्वार्थ का व्याघात होता है, उसको सुखी देखने से उनका चिन्तन करने से साधारण चित्त प्रायः ईर्ष्यालु होते हैं। उसी प्रकार शत्रु आदि को दुखी देखने से निष्ठुर हर्ष उमड़ता है। जो हमारे अपने मतानुसारी नहीं हैं पर पुण्यकर्मा हैं, ऐसे व्यक्तियों की प्रतिष्ठा आदि देखने से या चिन्तन करने से मन में असूया या अमुदित भाव आते हैं और जो पुण्यकर्मा नहीं हैं उनके प्रति (यदि स्वार्थ नहीं रहे तो) अमर्ष या क्रुद्ध तथा पिशुन भाव उठते हैं। इस प्रकार ईर्ष्या, निष्ठुर हर्ष, अमुदिता तथा क्रुद्ध पिशुन भाव हिंसा या वैर के ही चार प्रकार हैं। इन्हें सुखी के प्रति मैत्री भाव, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति मुदिता या प्रसन्नता की भावना तथा अपुण्यात्माओं की उपेक्षा के द्वारा दूर करना चाहिए। इन भावनाओं को दृढ़ करने वाली अनेक प्रार्थनाएँ सभी धर्मों में प्रचलित हैं, तथा उनका प्रतिदिन पाठ कर इन भावनाओं को मन में दृढ़ करना मानसिक अहिंसा की साधना का अंग है। यह भाव निम्न श्लोक में सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है :

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणेषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव !

परदोष दर्शन, प्रतिस्पर्धा, दूसरे को पीछे ढकेल कर आगे निकल जाने की इच्छा एवं प्रयत्न, ये भी हिंसा के ही अंग हैं। ये आज के युग में जीवन के अनिवार्य अंग बन गये हैं। अतः यह आवश्यक है कि हम यह स्वीकार करें कि ये अहिंसा के विरोधी हैं तथा इन्हें प्रोत्साहन प्रदान न करें। दूसरों के गुणों में दोष देखना असूया कहलाता है। “पर गुणेषु दोषाविष्कारम्”। अनसूया का अर्थ है – न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तोति चान्यगुणानपि। न हसेच्चान्य दोषाश्च सानसूया प्रकीर्तिताः। अर्थात् दूसरे के गुणों का हनन न करके उनकी स्तुति करना तथा दूसरे के दोषों की हंसी न उड़ाना अनसूया कहलाता है।

अहिंसा से सम्बन्धित भावनाएँ

भैर्यादि चतुर्भावनाओं के अतिरिक्त मानसिक अहिंसा की साधना के लिए हिंसा वृत्ति के दोषों को देखकर उसके प्रति त्याज्य बुद्धि प्रबल बनाना आवश्यक है। कृत, कारित, वांछित और अनुमोदित, ये हिंसा के चार प्रकार पुनः लोभ, मोह और क्रोध ये हिंसाएँ त्रिविध प्रकार की होती हैं। चाहे कैसी भी हिंसा हो, अपरिहार्य कर्म सिद्धान्त के कारण दुःखदायक होती है। वन्धनादि द्वारा किसी के वीर्य का नाश करने के फलस्वरूप हिंसक के मन और इन्द्रियाँ दुर्बल वीर्यहीन हो जाती हैं। दूसरो को दुःख प्रदान करने के कारण हिंसक को नरक, तिर्यग् आदि योनियों में दुःख सहन करना पड़ता है और किसी प्राणी के प्राण नाश करने के फलस्वरूप हिंसक या तो स्वयं अल्पायु होता है, अथवा दीर्घायु होकर भी बहुत समय तक रुग्ण रहकर मृत्यु तुल्य कष्ट भोगता है। इस प्रकार हिंसा के दुष्परिणामों का चिन्तन कर उसके प्रति त्याग बुद्धि दृढ़ करनी चाहिए।

इसी प्रकार अहिंसा के गुण का चिन्तन करना चाहिए। अहिंसा में ही सुख और शान्ति है तथा समाज की व्यवस्था

का आधार भी अहिंसा है। इस विचार को दृढ़ करना चाहिए। हिंसा अपरिहार्य होते हुए भी जीवन का आधार या दिशा निर्देशक नहीं हो सकती। अहिंसा सभी नैतिकता, सभी धर्मों का मूल है, तथा वही धर्म का शाश्वत, शुद्धतम रूप है। वस्तुतः अहिंसा कोई गुण विशेष नहीं – वह तो अनेक गुणों की समष्टि है। शान्ति, प्रेम, करुणा, दया कल्याण मंगल, अभय, रक्षा, क्षमा, अप्रमाद आदि सभी गुण अहिंसा के ही पर्याय एवं अंग-प्रत्यंग हैं। प्रेम, आत्मीयता, त्याग, समता, करुणा, अहिंसा के आधार हैं। सभी प्राणियों के प्रति समभाव से व्यवहार करना यही अहिंसा है। सभी मानवों, प्राणियों को शान्तिपूर्ण ढंग से जीने का अधिकार है अतः जहाँ भी जीवन है उसका आदर करना अहिंसा का ही रूप है। यही नहीं व्यावहारिक स्तर पर सहयोग एवं सहायता के बिना जीवन ही संभव नहीं। अतः सह-अस्तित्व के लिए भी अहिंसा अपरिहार्य है। भले ही हिंसा का पूर्णरूपेण परित्याग संभव न हो तो भी यह तो निश्चित है कि जितनी कम हिंसा हो, उतना ही जीवन श्रेष्ठतर होगा - ‘Less killing is better living.’ साधना में प्रवृत्त त्यागी साधक समस्त प्राणियों को संकल्प द्वारा अभय प्रदान करता है। अगर किसी संयोग अथवा कारणवश उसे हिंसा में प्रवृत्त होना पड़े, ऐसा कार्य करना पड़े जिससे दूसरे को कष्ट हो तो उसे इसके लिए पश्चात्ताप करना चाहिए। “धिक्कार है मुझे कि मैं समस्त प्राणियों को अभय-प्रदान करने के बाद पुनः इसके विपरीत कार्य कर रहा हूँ। इस तरह स्वयं को कोसना, अहिंसा की भावनाओं को मन में बैठाने में अत्यन्त उपयोगी है।” ... “मैं अभी तक अहिंसा में प्रतिष्ठित नहीं हो सका” यह सोचकर क्षोभ करना चाहिए तथा किसी भी स्थिति में हिंसा का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। वर्तमान समय में जब हिंसा की सर्वत्र वृद्धि हो रही है तथा उसे अनिवार्य एवं आवश्यक माना जाने लगा है, अहिंसा एवं सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों पर से लोगों की आस्था हटती जा रही है ऐसी स्थिति में पुनः अहिंसा के प्रति आदर

स्थापित करने के लिए उपर्युक्त भावना करना अत्यन्त आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है : There is no justifiable killing and there is no righteous anger. अर्थात् हिंसा की पुष्टि और क्रोध की तुष्टि नहीं हो सकती।

व्यावहारिक स्तर अहिंसा की साधना — जैसा कि कहा जा चुका है, पूर्ण अहिंसा एक उच्चतम आदर्श है जिसका पालन व्यावहारिक दैनन्दिन जीवन में लगभग असम्भव है। अतः न्यूनतम हिंसायुक्त जीवन यापन करना ही अहिंसा की साधना का व्यावहारिक रूप है। इस दृष्टि से हिंसा के चार प्रकार किये जा सकते हैं (१) संकल्पी (२) विरोधी (३) उद्योगी (४) आरंभी।

संकल्पी — संकल्प पूर्वक, मानसिक उत्तेजना सहित तथा जान बूझकर दूसरे का अकल्याण करने के उद्देश्य से की गयी हिंसा संकल्पी कही जाती है।

२. **विरोधी** — स्वयं तथा स्वयं से सम्बन्धित लोगों की निरीह, निरपराध की रक्षा के लिए जिस हिंसा को स्वीकार किया जाता है वह विरोधी हिंसा कहलाती है। धर्मयुद्ध इसी के अन्तर्गत आते हैं।

३. **उद्योगी** — खेतीबाड़ी, व्यवसायादि में अनिवार्य रूप से युक्त हिंसा को उद्योगी हिंसा कहा गया है।

४. **आरंभी** — जीवन निर्वाह के साथ जुड़ी हुई हिंसा, यथा मकान साफ करने, भोजन पकाने, कपड़े धोने आदि में होनेवाली हिंसा।

संकल्पी हिंसा का त्याग तो सर्वदा सर्वथा किया ही जाना चाहिए। शेष तीन प्रकार की हिंसाएं पूरी तरह से त्यागी नहीं जा सकतीं। उन्हें भी यथा संभव कम करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि निरपराध और असम्बद्ध व्यक्ति या प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे।

अन्य यम-नियमों का अनुष्ठान - जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विभिन्न यम नियमों में अहिंसा सर्व प्रथम एवं प्रमुख है तथा ये सारे यम नियम, अहिंसा की सिद्धि के लिए ही हैं। यह भी बताया जा चुका है कि असत्य, परिग्रह, चोरी तथा अब्रह्मचर्य प्रकारान्तर से हिंसा के ही रूप हैं। अतः इनका त्याग एवं सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना अहिंसा के ही रूप हैं। वस्तुतः समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ अहिंसा के लक्ष्य की ओर ले जानेवाली ही हैं। एक सरल शान्त, पवित्र अनाडंबरयुक्त जीवन व्यतीत करना अहिंसक होने के लिए परमावश्यक है। विशेषकर आधुनिक काल में जब हमारे जीवन निर्वाह के लिए तथा सुख सुविधा आदि के लिए अन्य प्राणियों को कष्ट देना अवश्यभावी हो गया है।

अहिंसा का विध्यात्मक पक्ष — अहिंसा का अर्थ केवल किसी की हत्या न करना या कष्ट न पहुँचाना मात्र नहीं है उसका एक भाव रूप, विध्यात्मक पक्ष भी है। सभी पर दयालु भाव रखना तथा पर पीड़ा निवृत्ति भी अहिंसा के ही रूप हैं। अतः सेवा, दान आदि द्वारा दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करना भी अहिंसा का ही प्रकार है।

अहिंसा : एक व्रत के रूप में — जैन धर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। जैन गृहस्थ एवं संन्यासी अनेक व्रतों का पालन करते हैं जिनमें अहिंसा व्रत सबसे महत्वपूर्ण है। संन्यासी, कृत, कारित और अनुमोदित, मन वचन एवं शरीर से की गई सभी हिंसा का पूरी तरह त्याग करता है। अर्थात् शरीर, मन या वाणी से न किसी की हिंसा करना या कष्ट पहुँचाना, न ऐसा करवाना और न किसी के द्वारा किए गए का अनुमोदन करना। जब इस प्रकार का आचार जाति, देश, काल और समय के द्वारा अनवच्छिन्न होता है, तब महाव्रत कहलाता है।

जाति देशसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम् ।

इसे समझना आवश्यक है। जाति अवच्छिन्न अहिंसा का उदाहरण है — मछुओं की मत्स्यगत हिंसा और अन्य जातिगत अहिंसा (अर्थात् उनकी हिंसा यदि केवल आजीविकार्थ मत्स्यों तक सीमित रहे और अन्यत्र वे अहिंसक रहें तो यह जाति अवच्छिन्न अहिंसा होगी। इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा है — “तीर्थ में हनन नहीं करूँगा इत्यादि।” कालावच्छिन्न अहिंसा है — चतुर्दशी या किसी पुण्य दिन में हनन नहीं करूँगा” इत्यादि। यह अहिंसा समयावच्छिन्न भी हो सकती हैं जैसे “देव ब्राह्मण के लिए हिंसा करूँगा अन्य किसी प्रयोजन से नहीं।” समय का अर्थ कर्तव्य के लिए नियम भी हो सकता है। जैसे अर्जुन ने क्षत्रिय कर्तव्य की दृष्टि से युद्ध किया था। इस तरह जाति, देश, कालादि द्वारा अवच्छिन्न न होकर जो अहिंसा सर्वथा, सर्वदा, सर्वावस्था में पालन की जाती है, वही श्रेष्ठ है, तथा महाव्रत कहलाती है। योगी जन इसी का पालन करते हैं।

जहाँ तक गृहस्थों का प्रश्न है, उनके लिए महाव्रत संभव न होने के कारण वे आंशिक रूप में, क्रम पूर्वक, अधिकाधिक कठोर व्रत स्वीकार कर अहिंसा का पालन करते हैं। जान बूझ कर किसी भी प्राणी की शरीर से हिंसा नहीं करूँगा और न ही करवाऊँगा केवल अनुमोदन की छूट रहती है। इस प्रकार का व्रत अणुव्रत कहलाता है। वस्तुतः इस प्रकार के अपवादयुक्त व्रत तो दुर्बल मानवों के लिए राहत प्रदान करने जैसे हैं एवं क्रमशः हिंसा वृत्ति को त्याग कर पूरी तरह अहिंसक बनाने की दिशा में प्रथम कदम मात्र हैं। जाति, देश, कालादि के भी अपवाद उपर्युक्त रीति से स्वीकार किए गए हैं।

अहिंसा-साधना की समस्याएँ — जैसा कि प्रारंभ में कहा जा चुका है, अन्य यमों की तरह अहिंसा के भी दो रूप हैं; एक साध्य और एक साधन। साध्य के रूप में अहिंसा का अर्थ है सर्व प्राणियों में आत्मा का दर्शन

करना, सत्य का अर्थ है; आत्मा ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस सत्य में प्रतिष्ठित होना, ब्रह्मचर्य का अर्थ है सदा ब्रह्मस्वरूप में विचरण करना इत्यादि। लेकिन साधन के रूप में इन तीनों के कई स्तर हैं, एवं अन्य साधनों की तरह इनकी भी समस्याएँ हैं। पहली समस्या तो यह है कि सभी साधनों का लक्ष्य एक होते हुए भी सभी के लिए एक साधन संभव नहीं है। कोई सत्य को साधना के रूप में स्वीकार कर सकता है, कोई अहिंसा पर बल दे सकता है अथवा कोई ब्रह्मचर्य को लेकर आगे बढ़ सकता है। सभी साधन परस्पर सम्बन्धित अवश्य हैं लेकिन भिन्न-भिन्न साधक भिन्न-भिन्न साधनों पर बल देते हैं। यही नहीं, पात्र, देश और काल के अनुसार भी परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए जिस गरीब व्यक्ति को अपने परिवार के भरण पोषण के लिए रोजी रोटी के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ रहा है जिसे अपने तथा अपने परिवार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए संघर्षरत रहना पड़ रहा है उसके लिए अहिंसा परमोधर्म एवं चरम लक्ष्य होते हुए भी तात्कालिक साधन नहीं हो सकता। जिस देश को सदा बाहरी शत्रुओं के आक्रमण का भय बना रहता हो उसके लिए भी अहिंसा का संपूर्ण पालन सम्भव नहीं है। दुर्बल बलहीन व्यक्ति को अहिंसा का आदर्श और अधिक दुर्बल बना सकता है। क्षमा वीरस्य भूषणम्। अहिंसा उच्चतम या परमादर्श है, लेकिन समाज में कभी भी उच्चतम आदर्श का आचरण करने वाले विरले व्यक्ति ही होते हैं। व्यावहारिक स्तर पर दैनन्दिन जीवन के स्तर पर निरन्तर आदर्श को स्वीकार करना होता है अन्यथा सारे समाज का पतन होता है।

सभी साधनों की दूसरी समस्या यह है कि साधन ही साध्य बन जाते हैं। उन पर इतना अधिक बल दिया जाने लगता है कि लोग लक्ष्य को भूल जाते हैं। यह दुराग्रह एवं कट्टरवादिता का रूप ले लेता है। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही बात है। अहिंसा के प्रति दुराग्रह वाले लोग चींटी, मच्छर, कीड़े-मकोड़े आदि को बचाने में ही

अपना सारा समय गंवा देते हैं और यदि कहीं गलती से कीड़ा मर जाय तो अत्यधिक शोक करने लगते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस साधना का चरम लक्ष्य सर्वभूतों में स्वयं की आत्मा का दर्शन करना है।

इससे सम्बन्धित एक और समस्या है। सभी साधनों की तरह अहिंसा के भी दो पक्ष हैं। स्थूल - शारीरिक अथवा भौतिक तथा सूक्ष्म - भावरूप, अथवा मानसिक। कालान्तर में स्थूल पर अधिक बल दिया जाने लगता है क्योंकि वह सरल होता है, आसानी से समझ में आता है, तथा प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसकी सामाजिक मान्यता होती है तथा प्रशंसा भी प्राप्त होती है। अहिंसा के सम्बन्ध में भी यही बात है। मानसिक या भाव अहिंसा अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी अधिक कठिन होती है। किसी प्राणी की हत्या नहीं करना आसान है लेकिन किसी के प्रति द्वेष भाव पूरी तरह त्यागना कठिन है। अतः अहिंसा भी कालान्तर में प्राणी हत्या नहीं करना, निराभिष भोजन त्याग आदि में ही परिवर्तित होकर रह जाती है। मैत्री भाव बढ़ाने को गौण महत्व मिलने लगता है। यही नहीं, साधना का नकारात्मक पक्ष प्रबल हो जाता है। दूसरों के कष्ट को लाघव करना भी अहिंसा का अंग है, यह बात गौण हो जाती है।

रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा में अहिंसा - वस्तुतः सभी अवतारी महापुरुष प्रेम व अहिंसा को शाश्वत संदेश के रूप में अपने जीवन द्वारा प्रदर्शित करने एवं उसका उपदेश देने के लिए ही आते हैं। श्रीरामकृष्ण भी इसके अपवाद नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण की जीवनी पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक ब्रह्मज्ञ पुरुष थे तथा अत्यन्त स्वाभाविक रूप से ब्रह्मात्मैकत्व में प्रतिष्ठित थे। अहिंसा के संदर्भ में वे पारमार्थिक अहिंसा में सर्वदा प्रतिष्ठित थे। गले के कैंसर से पीड़ित हो जब वे मुँह से कम खा पी रहे थे तब भी उन्हें यह अनुभूति थी कि वे असंख्य भक्तों के मुँह से खा रहे हैं। यह तभी संभव है जब वे समस्त प्राणियों में स्वयं को अवस्थित देखें। एक बार उन्होंने

स्वयं भोजन करके अपने अनेक भूखे भक्तों की क्षुधा निवृत्ति की थी। यह भी तभी संभव है जब वे स्वयं को सभी की देहों में अवस्थित देखें। एक मांझी के दूसरे मांझी पर कराघात करने पर स्वयं उसका अनुभव करना तथा घास पर चल रहे व्यक्ति के पदाघात को स्वयं के सीने पर अनुभव करना भी श्रीरामकृष्ण के पारमार्थिक अहिंसा में प्रतिष्ठित होने के दृष्टान्त हैं। वे सर्वत्र यहाँ तक कि वनस्पति में भी आत्मा का दर्शन करते थे, अतः एक अवस्था ऐसी आई थी जब वे हरी दूब पर पैर नहीं रख सकते थे तथा उसे बचा कर, सुखी जमीन पर पैर रख रख कर चलते थे।

जहाँ तक भाव अहिंसा अथवा मानसिक अहिंसा का प्रश्न है, इसमें भी श्रीरामकृष्ण पूर्ण प्रतिष्ठित थे। उनका जन्म ही जगत् के कल्याण के लिए हुआ था। दुखी, वृद्ध, आर्त प्राणियों के लिए वे करुणा से पूर्ण थे, तथा उनका समग्र जीवन दूसरों के कष्ट लाघव करने तथा उन्हें मुक्ति प्रदान करने में ही बीता था। सुखी एवं पुण्यात्माओं के प्रति उनके मन में मुदिता एवं मैत्री का भाव था। वे उनके दर्शन करके आनन्दित होते थे तथा उनसे मैत्री स्थापित करते थे। केशव चन्द्रसेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर एवं अन्यान्य मनीषियों एवं सन्त पुरुषों के दर्शन करने वे स्वयं गए थे। दुष्टों के प्रति उनके हृदय में उपेक्षा का भाव था। जिस ब्राह्मण पुजारी ने उन्हें लात से मारा था, उसे किसी प्रकार हानि न हो, यह सोच कर उन्होंने उसकी बात श्रीमथुरनाथ विश्वास से नहीं कही। यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण ने किसी की निन्दा तक नहीं की। प्रेम कभी दोष नहीं देखता। किसी की निन्दा करना अथवा उसके दोष देखना प्रेम का लक्षण नहीं बल्कि ईर्ष्या एवं स्वयं की उच्चाभिलाषा का फल है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि किसी का दोष नहीं देखना चाहिए।

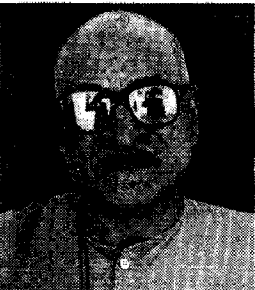
भय अहिंसा का विरोधी है। अहिंसक सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता है और स्वयं भी सभी से निर्भय हो जाता है क्योंकि उसकी यह मान्यता होती है कि सभी

में एक ही आत्म सत्ता है। व्यावहारिक स्तर पर भय पर विजय पाने का प्रयत्न करना अहिंसा-साधना का एक अंग है। श्रीरामकृष्ण इसका उपदेश दिया करते थे। मास्टर महाशय एक बार नाव के डौंवाडोल होने पर भयभीत होकर उतर गए थे। वे अपने परिवारवालों से भी भयभीत रहते थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इसे त्यागने का उपदेश दिया था।

माँ शारदा तो प्रेम व अहिंसा की जीवन्त प्रतिभूर्ति ही थीं। “कोई पराया नहीं है, सभी अपने हैं, सभी को अपना बनाना सीखो” - माँ शारदा का यह उपदेश अहिंसा और प्रेम का ही उपदेश है। “किसी का दोष न देखो” यह उनका सबसे महत्त्वपूर्ण सन्देश अहिंसा का आधार है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भी अहिंसा सर्वोपरि है। वे अहिंसा के महत्त्व को समझने के लिए पवहारी बाबा का दृष्टान्त दिया करते थे जिनके लिए सांप, चोर आदि सभी परमात्मा के ही रूप थे। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जो पूर्ण नैतिक है वह किसी प्राणी या व्यक्ति की हिंसा नहीं कर सकता। जो मुक्त होना चाहता है, उसे अहिंसक बनना होगा। जिसमें पूर्ण अहिंसा का भाव है उससे बढ़कर कोई शक्तिशाली नहीं है। स्वयं स्वामीजी ऐसी स्थिति में अवस्थित थे जहाँ से वे संसार के समस्त प्राणियों के कष्टों का अनुभव कर सकते थे। वे संसार के उद्धार के लिए बार-बार जन्म लेने के लिए भी प्रस्तुत थे।



अहिंसा और आहार अहिंसा की चर्चा करने पर साधारणतया लोगों में कीड़े मकोड़ों की हत्या न करना तथा निरामिष भोजन का विचार आता है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वास्तविक अहिंसा इन स्थूल विषयों से कहीं अधिक व्यापक है। जिससे अहिंसा को व्रत के रूप में अपनी साधना के प्रमुख अंग के रूप में स्वीकार किया है उसे निश्चित रूप से मांसाहार अथवा आमिष भोजन का त्याग करना चाहिए। योगियों के लिए भी आमिष भोजन वर्जित है। अन्य प्राणी के मांस से स्वयं के शरीर के पोषण का विचार अत्यन्त गर्हित है। मांस-मछली आदि तमोगुणी आहार हैं, एवं किसी भी साधक के लिए उपयोगी नहीं माने जा सकते। शीत प्रधान देशों में रहने वाले लोग बाल्यकाल से ही मांसाहार करते हैं। उनका शरीर एवं मन मांस खाने का अभ्यस्त हो जाता है। लेकिन ऐसे लोगों को भी साधना प्रारम्भ करने तथा कुछ प्रगति करने पर एक अवस्था में उसका त्याग कर निरामिष आहार को ग्रहण करना पड़ता है। हिन्दू शास्त्रों में कहा गया है कि मैथुन, मद्यपान एवं मांसाहार मानवों के लिए स्वाभाविक है, लेकिन इनके त्याग में महान् पुण्य है। आहार का मन पर भी प्रभाव पड़ता है। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। अतः जहाँ तक आध्यात्मिक साधक का प्रश्न है उसके लिए निरामिष आहार ही श्रेष्ठ है यह बात असंदिग्ध है।



□ स्वामी ब्रह्मेशानन्द सुप्रतिष्ठित आध्यात्मिक संस्थान श्री रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ सन्यासी हैं। आपने १९६४ में एम.डी. की उपाधि प्राप्त की तथा बाइस वर्षों तक रामकृष्ण मिशन के बृहद चिकित्सालय, वाराणसी में सेवा कार्य किया। आजकल आप चेन्नई में अंग्रेजी मासिक “वेदांत केसरी” का संपादन कर रहे हैं। आपने जैन धर्म पर अंग्रेजी एवं हिन्दी में कई आलेख लिखे हैं। आपने मिशन द्वारा हिन्दी में “महावीर की वाणी” व अंग्रेजी में “Thus spake Lord Mahavira” प्रकाशित की है। आप एक श्रेष्ठ वक्ता, चिंतक एवं लेखक हैं।

— सम्पादक